6421

तित्थयर

जून १९९२
षोडश वर्ष : द्वितीय अंक

जैन भवन

श्री आ. श्री कैलाससागर सूरि ज्ञान मंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष १६ : अंक २

जून १९९२

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी-२५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७

सूची

जैन श्रमण साधना : एक परिचय ३५

त्रिषष्टि शलाका पुरुष

चरित्र ४४

संकलन ६२

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या ६३

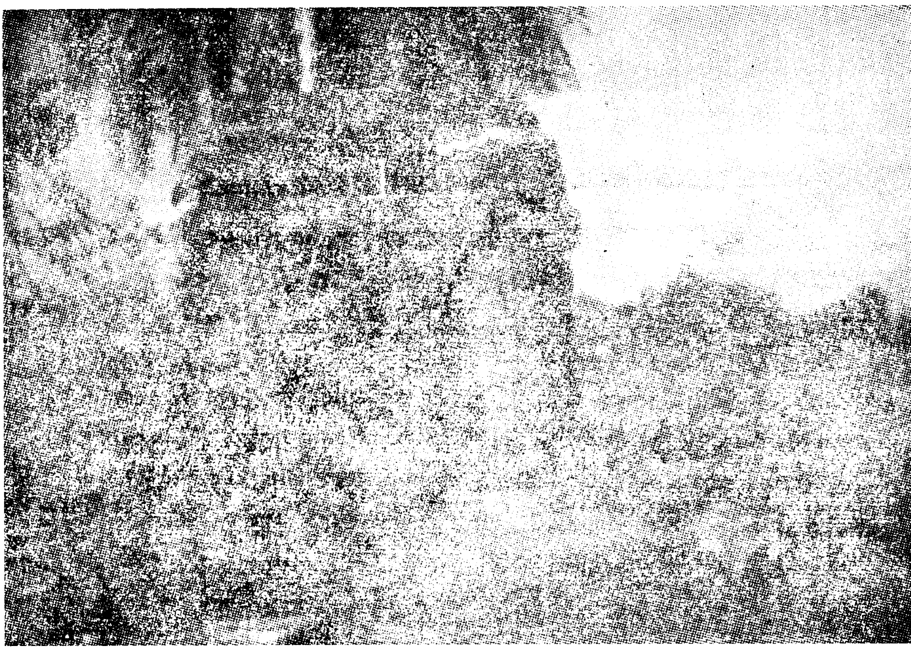

भग्न जैन मन्दिर, पूँचड़ा

जैन श्रमण साधना : एक परिचय

डा० सुभाष कोठारी

"साधना" को जैन दर्शन में मोक्ष-मार्ग कहा है, जैनेतर दर्शन में "योग" व जन साधारणकी भाषा में सदा "आचरण" कहा जाता है। यहाँ साधना का सामान्य अर्थ "इन्द्रिय-निग्रह" है,[1] अर्थात् मन, वचन व काया पर पूर्ण संयम रखना।

जैन-साधना का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व हो जाता है क्योंकि वह साधना करने वाले के पुरुषार्थ और बल पर ही आत्म-सिद्धि को निर्भर मानती है। चिरशान्ति की प्राप्ति के लिए एक मात्र साधन, साधना ही है और इसी से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। ज्यों-ज्यों साधक साधना की उत्तरोत्तर गहनता में उतरता है, त्यों-त्यों उसके मोह का बंधन टूटता जाता है एवं वह मुक्ति की ओर अग्रसर होता चला जाता है।

साधना का वर्गीकरण :

जैन साधना में धर्म के दो रूप माने गये हैं—एक श्रुतधर्म और दूसरा चारित्रधर्म। श्रुतधर्म का अर्थ है—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—इन नव तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान और श्रद्धा होना। चारित्रधर्म का अर्थ संयम एवं तप है।[2] साधु व श्रावक के आचार के अन्तर का आधार केवल चारित्र ही है। श्रमण की साधना उत्कृष्ट एवं कठोर होती है परन्तु श्रावक की साधना उतनी उत्कृष्ट व कठोर नहीं होती है। श्रमण तो सांसारिक प्रपंचों से अलग-थलग रहकर आरम्भ, परिग्रह से मुक्त होकर साधना करता है, परन्तु श्रावक घर के प्रपंचमय जीवन में रहकर ही साधना करता है।

मुनि साधना :

जैन धर्म में मुनि साधना का सामान्य अर्थ साधु या श्रमण के आचार से है। श्रमण-आचार शब्द आते ही सर्वप्रथम हमारा ध्यान पाँच मूल व्रतों की ओर आकृष्ट हो जाता है। जैन साधना पद्धति में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह, ये पाँच मूल व्रत माने गये हैं, जिन्हें सम्पूर्ण रूप से अर्थात्

---

१ पटेरिया, एम. पी., 'जैन साधना पद्धति : एक विश्लेषण', श्री अम्बागुरु अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. ३३६

२ जैन, डॉ. सागरमल, जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, पृ. २५७।

मन, वचन, काय व कृत, कारित एवं अनुमोदित इन नौ कोटियों सहित पालन करने को महाव्रत संज्ञा दी गई है। इसके अतिरिक्त पाँच समिति, तीन गुप्ति, बाइस परिषह, दस समाचारी, बावन अनाचार त्याग आदि भी श्रमण साधना के अनिवार्य अंग हैं। इन सभी का हम इस शोध-लेख में क्रमानुसार वर्णन कर रहे हैं।

पाँच महाव्रत :

श्रमणों को मुख्य रूप से आचार की नींव के रूप में अहिंसादि पाँच महाव्रतों का पालन करना होता है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

१. अहिंसा—साधु सर्व प्रकार की, त्रस व स्थावर जीवों की, हिंसा का त्याग करता है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि साधु जन, जग में रहे हुए समस्त प्राणियों की जानबूझ कर एवं अनजान में मन, वचन, काय द्वारा न हिंसा करें, न करवायें और न करते हुए की अनुमोदना ही करें।[३] व्रतों की सुदृढ़ता के लिए आचारांगसूत्र में त्रस और स्थावर, सूक्ष्म एवं स्थूल जीवों की तीन करण, तीन योग से हिंसा न करने को अहिंसा महाव्रत कहकर इसकी पाँच भावनाएँ बतलाई हैं, वे क्रमशः ईर्या समिति, वचन समिति, मनः समिति, एषणा समिति व निक्षेपण समिति के रूप में हैं।[४] ईर्या समिति का अर्थ चलते-फिरते समय अज्ञान व असावधानीवश किसी जीवन की विराधना न हो, किया गया है। वचन समिति के अनुसार बोलते समय ऐसे वचनों का प्रयोग नहीं करें जो दूसरों को कष्ट उत्पन्न करे। मनः भावना का अर्थ मन में विभिन्न प्रकार के विध्वंसात्मक विचारों को स्थान नहीं देना है। एषणा समिति से शरीर को धर्म-ध्यान के हेतु चलाने के लिए निर्दोष आहार की प्राप्ति माना है। निक्षेपणा का बोध दैनिक जीवन के कार्यकलापों को चलाने के लिए जो आवश्यक उपकरणादि रखे जाते हैं, उन पर ममत्व नहीं रखते हुए उसका सावधानीपूर्वक उपयोग करना होता है। इन पाँच भावनाओं से श्रमण को अहिंसाणुव्रत-पालन करने में संबल मिलता है।

२. सत्य—श्रमण द्वारा असत्य का पूर्ण रूप से त्याग करना सत्य महाव्रत

---

३ जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा, नहणे णा वि घायए॥ —दशवैकालिकसूत्र, ६।१०

४ पढमं भंते। महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं से सुहुम वा बायर वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणाइवायं करिज्जा ३ जावज्जीवाऐ तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। —आचारांगसूत्र, मुनि आत्माराम, पृ. १४१८

कहलाता है । इसमें असत्य का मन, वचन, काय द्वारा, कृत, कारित, अनुमोदित आदि नौ प्रकार से त्याग किया जाता है । उत्तराध्ययनटीका में कहा गया है जिस शब्द के प्रयोग से जनजन का हित होता हो, वह सत्य है ।[५] दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि जो भाषा सत्यासत्य मृषा-मिश्र है व जो भाषा मृषा है, इनको बोलना योग्य नहीं है ।[६] आचारांगसूत्र में तो यहाँ तक कहा है कि साधु हँसी-मजाक का भी परित्याग करें,[७] वह अपने अन्दर में ऐसे संस्कार जागृत करे जिससे उसकी वाणी पूर्ण संयत, निर्दोष एवं यथार्थ हो ।

सत्य की नींव मजबूत करने के लिए जैनाचार्यों ने पाँच भावनाओं का उल्लेख किया है । आचारांगसूत्र, समवायांगसूत्र एवं प्रश्न व्याकरणसूत्र में पाँच-पाँच भावनाओं का वर्णन है । आचारांग में निम्न पाँच भावनाएँ बताई गई हैं ।[८]

(१) अनुवीचिभाषण भावना—हित-अहित का ध्यान रखे बिना बोलना । इसमें झूठ के आ जाने का संशय रहता है ।

(२) क्रोधप्रत्याख्यान भावना—क्रोध में व्यक्ति विवेकशून्य हो जाता है और इस समय असत्य भाषण की सम्भावना रहती है । अतः क्रोध का त्याग करके बोलना चाहिए ।

(३) लोभप्रत्याख्यान भावना—लोभ का त्याग करना जरूरी है क्योंकि लोभ के वशीभूत होकर व्यक्ति असत्य भाषण कर सकता है ।

(४) भयप्रत्याख्यान भावना—भय से युक्त व्यक्ति अपने बचाव के लिए झूठ बोल देता है, अतः मुनि को पूर्णतः भयमुक्त रहना चाहिए ।

(५) हास्यप्रत्याख्यान भावना—हास्यवश साधु असत्यभाषण कर सकता है, अतः मुनि हँसी-मजाक का त्याग करें । हँसी-मजाक से जीवन की गम्भीरता में कमी तो आती ही है, सभ्य लोगों की दृष्टि में वह तुच्छ-सा लगता है ।

३. अचौर्य—मुनि को गृहस्थ की आज्ञा के बिना कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिए । आचारांगसूत्र में कहा गया है—"कोई भी पदार्थ चाहे वह ग्राम में, नगर में, अरण्य में, अटवी में पड़ा हो, वह स्वल्प हो, बहुत हो,

---

५ सदभ्यो हितसत्यम्—उत्तराध्ययनटीका, आचार्य शान्तिसूरि

६ जाय सच्चा अवत्तव्वा सच्चामोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहि नाइन्ना न तं भासिज्ज पन्नवं ।। —दशवैकालिकसूत्र, ७।२

७ आचारांगसूत्र, मुनि आत्माराम, पृ. १४२८-२६

८ वही, पृ. १४३०-३१

स्थूल हो, सचित्त अथवा अचित्त हो ; मन, वचन, काय से न ग्रहण करना, न दूसरो से करवाना, न करते हुए का अनुमोदन करना अचौर्यमहाव्रत कहलाता है।[९] दशवैकालिकसूत्र में भी यही स्वरूप वर्णित है।[१०]

चोरी व्यक्ति को पतन की राह पर ले जाती है। साधना में रत व्यक्ति ऐसे कार्य करने से संकल्प-विकल्पों में उलझकर अपनी शांति खो देता है। अतः अचौर्य महाव्रती साधक को कभी भी अदत्तग्रहण नहीं करना चाहिए। अदत्तादान महाव्रत की पाँच भावनाएँ इसे पुष्ट करने के लिये बताई गई हैं। आचारांगसूत्र व प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी इन भावनाओं का वर्णन प्राप्त होता है।[११]

(१) विविक्तवाससमिति भावना—जो विचारपूर्वक ही अवग्रह की याचना करता है।

(२) अनुज्ञातसंस्तारक ग्रहणरूप अवग्रहसमिति भावना—गुरुजनों की आज्ञा लेकर आहार-पानी करना चाहिये अर्थात् प्रत्येक वस्तु ग्रहण करते समय गुरु की आज्ञा लेनी चाहिये।

(३) शय्यासंस्तारक परिकर्मवर्जनारूप शय्यासमिति भावना—निर्ग्रन्थ साधु क्षेत्र व काल की मर्यादा को ध्यान में रखकर वस्तु ग्रहण करने वाला होना चाहिये।

(४) अनुज्ञात भक्तादि भोजन लक्षणा साधारण पिण्डपात लाभ समिति भावना—आवास व शय्या के साथ ही भोजन की भी जरूरत होती है, उसे निश्चित मात्रा में ग्रहण करना चाहिये। बार-बार आज्ञा लेने वाला होना चाहिये। इस तरह साधु अपनी आवश्यकतानुसार कल्पनीय वस्तु को ग्रहण करें। जितनी बार वस्तु की आवश्यकता हो उतनी बार गुरु की आज्ञा लेकर विवेकपूर्वक विचार कर ग्रहण करें।

(५) साधर्मिक विनयकरण भावना—समान धर्म व आचरण वाले की वस्तु लेने पर, उस साधर्मिक की (यानि जिससे वस्तु ली है) आज्ञा लेना चाहिये।

४. ब्रह्मचर्य—तीन करण तीन योग से मैथुन का सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि देव, मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी

---

९ आचारांगसूत्र, मुनि आत्माराम, पृ. १४३५-३६

१० दशवैकालिकसूत्र, ६।१४-१५

११ (क) आचारांगसूत्र, मुनि आत्माराम, पृ. १४३७-३९

(ख) प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवरद्वार, अध्ययन ८

सर्व प्रकार के मैथुन का तीन करण, तीन योग से त्याग ब्रह्मचर्य है।[12] सूत्रकृतांगसूत्रवृत्ति में सत्य, भूतदया, इन्द्रिय-निरोध-रूप ब्रह्म की चर्या—अनुष्ठान, ब्रह्मचर्य कहा है।[13] इस प्रकार जैनदर्शन में ब्रह्मचर्य को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इसी से व्यक्ति के विकास का मार्ग प्रशस्त किया जाता है। ब्रह्मचर्य को पुष्ट करने के लिये एवं जीवन में व्रतों की सुरक्षा के लिये सदैव जागृत रहकर साधना करने के लिए भावनाओं का विधान किया गया है। आचारांगसूत्र में ब्रह्मचर्य की निम्न पाँच भावनाएँ बतलाई गई हैं।[14]

(१) स्त्रियों की कामविषय कथा नहीं करना—इससे विकारी भावना जागृत होती है। साधना के विपरीत मनःस्थिति पैदा हो जाती है, इसलिए साधक को इससे बचना चाहिए।

(२) विकार दृष्टि से स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों को नहीं देखना चाहिए।

(३) पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना व शृंगार रस से युक्त वासना को उद्दीप्त करने वाले साहित्य को नहीं पढ़ना चाहिए।

(४) अधिक मात्रा में व सरस आहार का सेवन नहीं करना चाहिए। शारीरिक रूप से जितनी मात्रा में आवश्यकता हो, उससे अधिक नहीं खाना व जहाँ तक हो सके क्षुधा से भी कम व निरस आहार का सेवन करना चाहिए।

(५) स्त्री, पशु व नपुंसक से युक्त स्थान में रात को नहीं रहना चाहिए, क्योंकि इनके संसर्ग में रहने से मन में विकारों को स्थान मिलता है और व्यक्ति का मन आत्म-कल्याण से विमुख हो जाता है।

५. अपरिग्रह—साधु द्वारा समस्त नौ प्रकार के बाह्य परिग्रहों व चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग करना अपरिग्रह है। भूमि, भवन, रजत, स्वर्ण-सम्पत्ति, धान्य, दास-दासी पशु व घर-गृहस्थी का सामान बाह्य परिग्रह है[15] एवं मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसवेद, क्रोध, मान, माया, लोभ ये आन्तरिक परिग्रह

---

[12] आचारांगसूत्र, मुनि आत्माराम, पृ. १४४४

[13] शास्त्री, देवमुनि, जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. ८३१

[14] आचारांगसूत्र, मुनि आत्माराम, पृ. २४४५-४६

[15] खेत्तं वत्थूं धण-संचओ मित्तणाइ संजोगो।
जाण सयणासयाणि य दासी-दास च कुव्वयं च ॥

—बृहत्कल्पभाष्य, २८५

है।[१६] आचारांगसूत्र में अल्प, बहुत, सूक्ष्म, स्थूल, सचित्त व अचित किसी भी प्रकार के परिग्रह को मन, वचन, काय से न ग्रहण करना, न ग्रहण करवाना और न ही ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करना, अपरिग्रह व्रत माना गया है।[१७] इस प्रकार वस्त्र, पात्र के साथ-साथ शरीर व साधना के प्रति ममत्व नहीं हो, यह ही महाव्रती का सच्चा लक्षण है। अपरिग्रह को मजबूत करने के लिए पाँच भावनाओं का विधान किया गया है :

(१) प्रिय व अप्रिय शब्द—कान में पड़े प्रिय या अप्रिय शब्दों के प्रति राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

(२) रूप—आँखों के सामने आने वाले मधुर, सुन्दर एवं विकृत रूप को देखकर राग-द्वेष नहीं करना चाहिये।

(३) गन्ध—वायु के साथ आने वाली दुर्गन्ध व सुगन्ध के समय भी समभाव से रहना चाहिए।

(४) रस—आहार के प्रसंग में स्वादिष्ट व निरस जैसा भी आहार मिले उसे समभाव पूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

(५) स्पर्श—गर्मी, सर्दी, वर्षा में अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्गों के होने पर भी साधु को साधना में लीन रहना चाहिए।[१८]

इस तरह पाँच महाव्रत और उसकी पच्चीस भावनाओं का सम्यक् रूप से पालन करना ही श्रमण का मूल ध्येय होता है। इसके पालन से ही वह आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होता है, एवं जनता के लिए मार्ग-दर्शन व प्रेरणा-स्रोत बन जाता है।

इन पाँच महाव्रतों की रक्षा व परिपुष्टता के लिए जैनाचार्यों ने पाँच समिति व तीन गुप्ति रूप अष्टप्रवचन माता का भी प्रतिपादन किया है।

पांच समिति :

प्राणातिपात प्रभृति पापों से निवृत्त रहने के लिए एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली सम्यक् प्रवृत्ति समिति कहलाती है।[१९] उत्तराध्ययन सूत्र में

---

[१६] कोहो माणो माया लोभो पेज्जं तहेव दो स अ।
मिच्छत्त वेद अरइ रइ हासो सोगो भय-दुगंछा॥
—बृहत्कल्पभाष्य, ८३१

[१७] आचारांगसूत्र, मुनि आत्माराम, पृ. १४५४

[१८] वही, पृ. १४५५-५७

[१९] सम-एकीभावेन, इतिः प्रवृत्तिः 'समितिः शोभनैकाग्रपरिणाम-चेष्टेत्यर्थः।
—प्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति

समितियों के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं : ईर्या, भाषा, एषणा आदान, भाण्डनिक्षेपण, उच्चारादि प्रतिस्थापना ।[२०]

(१) ईर्या समिति—ज्ञान-दर्शन-चारित्र का आलम्बन लेकर, विवेकयुक्त होकर गमनागमन करना ईर्या समिति है । इसमें साधु को गमनागमन दिन में ही करना चाहिए, रात्रि में नहीं, क्योंकि रात्रि में हिंसा की संभावनाएँ ज्यादा रहती हैं । ईर्या समिति के सम्यक् परिपालन के लिए आलम्बन, काल, मार्ग व यतना का होना आवश्यक है यथा—

(क) ज्ञान-दर्शन-चारित्र के पालन से साधक मुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकता है ।

(ख) इसका पालन दिन में होता है, रात्रि में नहीं । अपवाद मार्ग की बात और है ।

(ग) साधक को वन बिषममार्ग व चोर-उचक्को से युक्त मार्ग पर नहीं चलना चाहिए तथा वेश्यालय, अन्तःपुर व सेनाशिविर के पास भी नहीं चलना चाहिए क्योंकि इससे मन में विक्षोभ उत्पन्न हो सकता है ।

(घ) चलते समय उचित विवेक रखा जाना चाहिए, संभ्रान्त व मंथर गति से हास्य व चंचलता रहित होकर गमन करना साधु के लिए कल्पनीय है ।

(२) भाषा समिति—श्रमण द्वारा अपनी वाणी पर संयम रखना ही भाषा समिति है । श्रमण द्वारा सदैव सत्य, प्रिय व निर्दोष वचन बोले जाने चाहिए । इससे सत्य महाव्रत पुष्ट होता है । क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा इन दोषों से अपने को विलग रखकर आवश्यकता होने पर भाषण करना चाहिए ।[२१]

(३) एषणा समिति—एषणा का अर्थ चाह से होता है । साधु जीवन का पालन करने व संयम-निर्वाह करने के लिए आहार की आवश्यकता होती है, रहने के लिए स्थान की आवश्यकता होती है । इन आवश्यकताओं की पूर्ति संयमित रूप से किस प्रकार हो, यह ध्यान रखना ही एषणा समिति है जैसे गाय चारा चरते समय ऊपर-ऊपर से घास खा जाती है, उसकी जड़ों को नहीं खाती, उसी प्रकार साधु को गृहस्थों के घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार

---

[२०] इरिया-भासे-सणादाणे, उच्चारे समिईइय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य अट्ठमा ॥ —उत्तराध्ययनसूत्र, २४।२

[२१] भाषा समिति नमि हितमितसंदिग्धार्थभाषणम् ।
—आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति

('जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से उद्धृत)

लेना चाहिए। जिससे गृहस्थ को नये आहार का निर्माण नहीं करना पड़े और उसी आहार से उनकी पूर्ति हो जाये। भिक्षाचर्या मे साधु को राजा, गुप्तचर, गृहपति, सेठ के गुप्त मंत्रणा स्थलों पर नहीं जाना चाहिये।[२२]

(४) आदानभाण्डमात्रनिक्षेपण समिति—साधु के उपयोग में आने वाली वस्तुओं को विवेकपूर्वक ग्रहण करना तथा प्रमार्जित भूमि पर निक्षेपण करना आदानभाण्डमात्रनिक्षेप है।[२३] उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ओघ और औपग्रहिकउपधि तथा भण्डोपकरण को मुनि द्वारा यतनापूर्वक देखकर ग्रहण करना चाहिये।[२४] यहाँ जो सदैव पास रखी जाती हैं वे वस्तुएँ "ओघउपधि" जैसे—रजोहरण, वस्त्र, पात्र आदि एवं जो संयम-रक्षा में थोड़े समय के लिए काम में आती हैं वे वस्तुएँ "औपग्रहीत उपधि" कही जाती हैं जैसे—पाट-पाटला, शय्या आदि।

(५) मलमूत्रादिप्रतिस्थापना समिति—श्रमण को मल-मूत्र आदि परिष्ठान योग्य को एकान्त स्थल, जहाँ जीव नहीं हों, ऐसी स्थंडिल भूमि में परठना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि दस विशेषणों वाले स्थंडिल में विष्ठा, मूत्र, श्लेष्म, कफ, शरीरका मैल, न खाने योग्य आहार, जीर्ण वस्त्रादि उपधि, मृत शरीर आदि को परठना चाहिये।[२५] परठने का स्थान कैसा हो, इस बारे में उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—(क) जहाँ कोई आता नहीं हो और देखता भी न हो ; (ख) जहाँ कोई आता तो हो, परन्तु देखता नहीं हो; (ग) जहाँ आता तो कोई नहीं हो, किन्तु दूर खड़ा देखता हो और (घ) जहाँ कोई आता भी हो और देखता भी हो, इन चारों में से प्रथम बिन्दु अर्थात् जहाँ कोई आता नहीं हो और देखता भी नहीं हो वह स्थान शुद्ध है तथा वहीं पर परठना उपयुक्त है।

---

२२ रण्णो गिहवईणं च, रहसंसाराक्खियाण य।
संकिलेसकरं ठाणं दूरओ परिवज्जए॥ —दशवैकालिकसूत्र, ५।१६

२३ आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समितिर्नाम आदाननिक्षेपविप्रज्ञेयासमितिः सुन्दरचेष्टेत्यर्थः। —आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति
('जैन आचार: सिद्धान्त और स्वरूप' से उद्धृत)

२४ चक्खुसा पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा दुहओवि समिए सया॥—उत्तराध्ययनसूत्र, २४।१४

२५ उच्चार पासवणं खेलं सिंघाण-जल्लियं।
आहारं उवहिं देहं अण्णं वावि तहाविहं॥ —उत्तराध्ययनसूत्र, २४।१५

स्थंडिल (जमीन) के दस विशेषण—

(१) जहां सपक्ष व परपक्ष का आना-जाना नहीं हो और न ही दृष्टि पड़ती हो। (२) जहाँ छः काय के जीवों की विराधना न होती हो। (३) जहाँ भूमि समतल हो। (४) भूमि साफ व खुली हो। (५) भूमि कुछ समय पूर्व दाह आदि से अचित्त नहीं हो। (६) जो विस्तृत हो, यानी एक हाथ प्रमाण लम्बी-चौड़ी हो। (७) भूमि चार अंगुल नीचे तक अचित्त हो। (८) जहाँ बाग-बगीचा आदि अति निकट नहीं हो। (६) चूहे आदि के बिल नहीं हों। (१०) जहाँ त्रस जीव व शालि आदि के बीज नहीं हो।[२६]

तीन गुप्ति :

गुप्ति का अर्थ है गोपन। आचार्य उमास्वाति ने 'सम्यग्योगनिग्रह गुप्तिः" कहकर मन, वचन, शरीर के योगों का जो प्रशस्त निग्रह है, उसे गुप्ति माना है।[२७] गुप्तियाँ तीन हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति व कायगुप्ति।

(१) मनोगुप्ति—उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्ति करते हुए मन को साधु यतनापूर्वक हटा लेवे।[२८] चंचल हुए मन को साधना से काबू में करे, ऐसा करने को मनोगुप्ति कहा गया है।

(२) वचनगुप्ति—दूसरों को मारने में समर्थ शब्द बोलना वचन संरम्भ है, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला शब्द वचन समारम्भ है व प्राणियों के प्राणों का अत्यन्त क्लेशपूर्वक नाश में समर्थ मंत्रादि गुण का वचन आरम्भ है। अतः साधु यतनापूर्वक वचन से इनमें प्रवृति न करें।[२९]

(३) कायगुप्ति—खाने-पीने, उठने-बैठने, हिलने-चलने आदि में अशुभ व्यापारों का परित्याग काय गुप्ति है। किसी को पीटने के लिए तैयार होना काय संरम्भ, प्रहार करना काय समारम्भ व वध के लिए प्रवृत्त होना काय आरम्भ हैं।[३०] अतः साधु अपने को ऐसे कार्य करने से रोकें।

इस प्रकार समितियों का लक्ष्य काय, मन को चारित्र में लगाना है और गुप्तियों का प्रयोजन शुभाशुभ व्यापारों से मन हटाना है। समिति प्रवृत्ति व गुप्ति निवृतिरूप मानी गई है। अतः श्रमण के जीवन में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे महाव्रतों आदि के परिपालन में सहायता मिलती है व जीवन आचार दर्शन शुद्ध होता है। [क्रमशः

---

[२६] उत्तराध्ययनसूत्र, २४।१६-१८ [२७] तत्त्वार्थसूत्र, ६।४

[२८] उत्तराध्ययनसूत्र, २५।२१ [२९] वही, २४।२३ [३०] वही, २४।२५

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

नारद द्वारा यह सुनकर स्वनेत्रों से सब कुछ देखने के लिए रावण विमान से उतरा और यज्ञ मंडप की ओर अग्रसर हुआ। मरूत राजा ने रावण का पैर धोकर सिंहासन पर बैठाया और उसकी पूजा की। तब रावण क्रुद्ध स्वर में बोला, तुम नरक के अभिमुखी होकर ऐसा यज्ञ क्यों कर रहे हो? त्रिलोक के हितकारी सर्वज्ञ पुरुषों ने अहिंसा को धर्म कहा है तब पशु हिंसात्मक यज्ञ में धर्म कैसे हो सकता है? यज्ञ से तो लोक और परलोक दोनों ही विनष्ट होता है। उभय लोक विनष्टकारी ऐसा यज्ञ मत करो। यदि करोगे तो इहलोक में मेरे कारागार में निवास करना पड़ेगा और परलोक में नरक में जाना पड़ेगा।' मरूत् राजाने तत्क्षण यज्ञ बन्द कर दिया कारण समस्त जगत् जिससे भयभीत हो उसकी आज्ञा को उल्लंघन भला कौन कर सकता है? तब रावण ने नारद से पूछा, 'इस पशु वधात्मक यज्ञ का आरम्भ किस प्रकार हुआ?' इस पर नारद ने जवाब दिया —

'चेदी देश में शुक्तिमती नामक एक प्रसिद्ध नगरी है। प्रिय सखी की भाँति शुक्तिमती नदीने उसे वेष्टित कर रखा है। उस नगरी में बहुत से उत्तम आचरणशील राजा हुए हैं। वहाँ मुनिसुव्रत स्वामी के तीर्थ में अभिचन्द्र नामक सर्व विषयों में श्रेष्ठ एक राजा था। उसके वसु नामक एक पुत्र हुआ। वह बहुत बुद्धिमान एवं सत्यवक्ता था। बाल्यकाल में मैं, वसु और गुरुपुत्र पर्वत एक साथ क्षीरकदम्ब नामक गुरु से अध्ययन करते थे। एक रात्रि विद्याभ्यास के पश्चात जब हम तीनों क्लान्त होकर घर की छत पर सोए हुए थे तब दो चारण मुनियों को आकाश पथ से इस प्रकार कहते हुए जाते देखा कि 'इन तीनों में एक स्वर्ग जायेगा और दो नरक जाएँगे।' यह सुनकर गुरुजी दुःखी हुए और मन ही मन सोचने लगे मेरे जैसे गुरु के रहते हुए भी मेरे दोनों शिष्य नरक जाएँगे? गुरुजी के मन में यह भी जानने की इच्छा हुयी कि इनमें कौन स्वर्ग जाएगा और कौन नरक। अतः दूसरे दिन उन्होंने हमलोगों को बुलवाया और प्रत्येक को एक एक आटे का मुर्गा देकर कहा जहाँ कोई न देखे वहां ले जाकर इन्हें मार डालना। वसु और पर्वत ने

आत्मगति के अनुरूप निर्जन में जाकर दिये हुए मुर्गों की हत्या कर दी। मैं नगर के बाहर जनमानवहीन स्थान पर जाकर दिशा-विदिशाओं को देखकर सोचने लगा गुरु ने हमें आदेश दिया था कि जहाँ कोई नहीं देखे वहाँ जाकर मुर्गे को मारना किन्तु यहाँ तो मुर्गा स्वयं देख रहा है, मैं देख रहा हूँ खेचर देख रहे हैं और ज्ञानी भी देख रहे हैं। ऐसी जगह तो कहीं नहीं है जहाँ कोई नहीं देखे। इससे गुरु आज्ञा का यह तात्पर्य हुआ कि मुर्गे को मारना मत। हमारे पूजनीय गुरु तो दयालु एवं सर्वदा हिंसा के परिहार करने वाले हैं। उन्होंने लगता है हमारी बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए ही ऐसा आदेश दिया है। ऐसा सोचकर मैं गुरु के पास लौट आया और मुर्गे को नहीं मारने का कारण भी उन्हें बता दिया। इससे गुरुजी समझ गये मैं स्वर्ग जाऊँगा। अतः हर्षित होकर मारे प्रसन्नता के उन्होंने मुझे बाहों में जकड़ लिया और 'वाह-वाह' करने लगे।

'थोड़ी देर बाद ही वसु और पर्वत आए। वे बोले जहाँ किसी ने भी नहीं देखा ऐसे स्थान पर जाकर उन्होंने मुर्गों को मार डाला है। यह सुनकर दुःखी हुये गुरुजी उन्हें धिक्कारते हुए बोले, 'पापी, तुमलोग स्वयं तो देख रहे थे, ऊपर खेचर देख रहे थे, तब तुमलोगों ने कैसे मुर्गों की हत्या कर दी? उनके कृत्य से गुरुजी को इतना दुःख हुआ कि उन्होंने हमें आगे पढ़ाना बन्द कर दिया। वे सोचने लगे वसु और पर्वत को पढ़ाने का प्रयत्न तो व्यर्थ हो गया। आधार भेद से जल जैसे मुक्ता या लवण हो जाता है उसी प्रकार गुरु उपदेश भी पात्र के अनुसार ही परिणमित होता है। पर्वत मेरा प्रिय पुत्र है, और वसु मुझे पुत्र से भी ज्यादा प्रिय है। ये दोनों ही जब नरक जायेंगे तब गृहस्थावास से क्या लाभ?

'इस प्रकार वैराग्य प्राप्त कर गुरुजी ने दीक्षा ग्रहण कर ली और उनका स्थान पर्वत ने ग्रहण किया। व्याख्या करना और पढ़ाने में तो वह निपुण ही था। गुरुजी की कृपा से मैं भी शास्त्रों में निपुण होकर घर लौट आया।

'राजाओं में चन्द्रतुल्य अभिचन्द्र ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली। वैभव में वासुदेव तुल्य वसु सिंहासन पर बैठा। उसने पृथ्वी पर सत्यवक्ता के रूप में ख्याति प्राप्त की और इस ख्याति को अक्षुण्ण रखने के लिए वह सदैव सच बोलता था।

'एक बार विन्ध्यगिरि की स्थली पर एक शिकारी शिकार करने गया। दूर से हिरण देखकर उसे मारने के लिए उसने तीर निक्षेप किया किन्तु वह तीर

मृग को स्पर्श कर गिर पड़ा। उसका तीर क्यों गिर गया यह जानने के लिए वह उस स्थान पर गया। देखा वहाँ कोई मृग नहीं था। हस्त स्पर्श से समझा वहाँ आकाश-सी निर्मल एक स्फटिक शिला है। तब वह सोचने लगा पृथ्वी की छाया जिस प्रकार चांद पर पड़ती है उसी प्रकार अन्यत्र चल रहे मृग की छाया उस स्फटिक शिला पर पड़ रही थी और उसे देखकर ही उसने तीर छोड़ा था। इस शिला को बिना छूए इसका अस्तित्व समझा ही नहीं जा सकता ऐसी अद्भुत शिला तो वसु राजा के ही योग्य है।

'उस शिकारी ने सारी बात राजा वसु को एकान्त में जाकर कही। वसु राजा ने प्रसन्न होकर उसे खूब धन दिया और वह शिला रख ली। तदुपरान्त गुप्त रूप से उसी शिला द्वारा उन्होंने एक वेदी बनवायी। यह बात गुप्त ही रहे इसलिए उस वेदी निर्माता की हत्या करवा दी। क्योंकि राजा किसी का अपना नहीं होता। बाद में उसी वेदी पर अपना सिंहासन स्थापित करवाया। वेदी किसी को दिखायी नहीं पड़ती थी अतः सभी समझते सत्यवक्ता होने के कारण राजा का सिंहासन शून्य में रहता है। और सत्य बोलने के कारण ही देव तृप्त होकर उसके निकट रहते हैं और उसकी सेवा करते हैं। इस प्रकार चारों ओर उसकी प्रशंसा होने लगी। इसी प्रशंसा से भयभीत बने कई राजा उसके वशीभूत हो गए क्योंकि सत्य हो या झूठ प्रसिद्धि ही मनुष्य को जययुक्त करती है।

'एक बार घूमता हुआ मैं उसी नगरी में गया। वहाँ मैंने पर्वत को बुद्धिवंत शिष्यों को ऋग्वेद पढ़ाते हुए देखा। उस समय 'अजैर्यष्टव्यं' यह पाठ पढ़ाया जा रहा था। उसका अर्थ उसने बताया 'बकरे द्वारा यज्ञ करो' यह सुनकर मैं उससे बोला, 'भाई, तुम प्रमादवश ऐसा गलत अर्थ क्यों कर रहे हो! गुरुदेव ने हमें अज शब्द का अर्थ बताया था तीन बरस पुराना धान जो बोने पर—अंकुरित नहीं होता। गुरुदेव ने जो अर्थ बताया था तुम उसे क्यों भूल गए।'

'पर्वत बोला, 'मेरे पिताजी ने अज शब्द का यह अर्थ कभी नहीं बताया। उन्होंने तो अज शब्द का अर्थ बकरा ही बताया था और निघण्टु कोष में भी अज का अर्थ बकरा ही है।'

'मैंने कहा, 'शब्द का अर्थ कल्पना मुख्य और गौण दो प्रकार के होते हैं। यहाँ गुरुदेव ने गौण अर्थ ही बतलाया था। गुरुदेव सदैव धर्म का ही उपदेश देते थे। और जो वाक्य धर्मात्मक होते हैं उन्हें ही वेद कहा जाता

है। इसलिए हे बन्धु, तुम दोनों को अन्यथा कर क्यों पाप उपार्जन कर रहे हो ?'

'तब पर्वत आक्षेप करता हुआ बोला, 'अरे ओ नारद, गुरुदेव ने अज का अर्थ बकरा ही बताया था। गुरुदेव के उपदेश और शब्द के अर्थ का उल्लंघन कर तुम कौन-सा धर्म उपार्जन कर रहे हो ? लोग दण्ड के भय से मिथ्या अभिमानयुक्त वाक्य नहीं बोलते किन्तु तुम बोल रहे हो। इसलिए हमारे अपने-अपने पक्ष के समर्थन में यह शर्त रखना उचित है कि जो मिथ्यावादी प्रमाणित होगा उसकी जिह्वा काटकर फेंक दी जाएगी। इस निर्णय के लिए हमारे साथ पढ़ने वाले वसु को नियुक्त करना ही उचित होगा।' मैंने उसकी बात मान ली कारण जो सत्यवादी होते हैं उनके हृदय में कभी क्षोभ नहीं होता।

'पर्वत की माँ ने गृहकार्य में व्यस्त होते हुए भी हमारी इस शर्त की बात सुन ली थी। उसने अपने पुत्र को एकान्त में बुलाकर कहा, 'पुत्र, तुम्हारे पिता ने अज शब्द का अर्थ तीन वर्ष का पुराना धान ही कहा था। इसलिए गर्वित होकर तुमने जो जिह्वा छेद की शर्त रखी वह ठीक नहीं है। जो बिना विचारे बोलते हैं उन्हें कष्ट ही उठाना पड़ता है।'

'पर्वत बोला, 'माँ, अब मैं प्रतिज्ञाबद्ध हूँ। अतः अब यह नहीं बदल सकता।'

'पुत्र की भावी आशंका से पर्वत की माँ वसु राजा के निकट गयी। कारण पुत्र के लिए मनुष्य क्या नहीं करता ?

'पर्वत की माँ को देखकर वसु राजा बोला, आज आपको देखकर लग रहा है जैसे मैं गुरुदेव क्षीर कदम्ब को ही देख रहा हूँ। कहिए मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? या आपको क्या दूँ ?'

'वह बोली, 'राजन्, मैं आपसे पुत्र की भिक्षा माँगने आयी हूँ। बिना पुत्र के धनधान्य किस काम का ?'

'वसु बोला, 'माँ, आपका पुत्र मेरे लिए पालनीय और पूजनीय है। कहा भी गया है कि गुरु-पुत्र के साथ गुरु जैसा ही व्यवहार करो। माँ, इस असमय में रोषकारी काल आज किसके लिए खाता खोले बैठा है ! मेरे भाई पर्वत को कौन मारना चाहता है ? और आप इतनी व्याकुल क्यों हो रही हैं ?'

'पर्वत की माँ ने नारद और पर्वत के मध्य हुए वार्तालाप, पर्वत की

प्रतिज्ञा सब कुछ स्पष्टतया बता दिया। बोली, 'वत्स, अतः तुम 'अज' शब्द का अर्थ 'बकरा' ही करना। क्योंकि महान् व्यक्ति जब अपने प्राण देकर भी दूसरों की रक्षा करते हैं तो आप वाक्य द्वारा उपकार क्यों नहीं करेंगे ?'

'वसु बोला, 'माँ, मैं मिथ्या क्यो बोलूँगा ? सत्यवादी प्राण जाने पर भी मिथ्या नहीं बोलते। पाप-भय से जो भीत है उसके लिए जब किसी भी प्रकार का झूठ बोलना अनुचित है तब गुरु-वाक्य को अन्यथाकारी मिथ्या साक्षी मैं कैसे दूँगा ?'

'तब पर्वत की माँ क्रुद्ध होकर बोली, 'वत्स, चाहे गुरु पुत्र के प्राणों की रक्षा करो या सत्य का आग्रह। दोनों कार्य एक साथ नहीं हो सकते।'

'तब वसु राजा ने गुरु पुत्र के प्राणों की रक्षा करना स्वीकार कर लिया। पर्वत की माँ इससे प्रसन्न होकर अपने घर लौट गयी। मैं और पर्वत तब वसु राजा के निकट गए।

'सभा के मध्य में गुणों से सुशोभित और सत् एवं असत्वादरूपी क्षीर और नीर का भेद करने में हंस रूप विज्ञ पुरुष एकत्रित हो रहे थे। आकाश-सी निर्मल स्फटिक शिला की वेदी पर रखे सिंहासन पर वसु सभापति बनकर बैठा था। वह इस प्रकार शोभित हो रहा था जैसे आकाश में चन्द्रमा।

'मैंने और पर्वत ने 'अज' शब्द का अर्थ अपने-अपने पक्ष के अनुसार विवृत किया। फिर मैं बोला, 'हे सत्यवादी, इसमें कौन-सा सत्य है आप बताएँ।'

'उसी समय अन्यान्य वृद्ध विप्र राजा से बोले, 'राजन्, इस विवाद की मीमांसा तो आप पर ही निर्भर है कारण पृथ्वी और आकाश के मध्य आप ही साक्षी हैं। घर आदि जो दस दिव्य हैं वे सत्य के आधार हैं। सत्य से ही मेघ वृष्टि करते हैं, सत्य में ही देवों की शक्ति निहित है। हे राजन्, आपके द्वारा ही यह लोक सत्य पर अवस्थित है। अतः इस विषय में हम आपको अधिक क्या कहें ? जो बात आपके सत्यव्रत के अनुकूल हो वही कहें।'

'यह सुनकर अपनी सत्यवादिता की जो प्रसिद्धि थी उसकी उपेक्षा कर राजा वसु बोले, 'गुरुदेव ने 'अज' शब्द का अर्थ 'बकरा' कहा था।'

'वसु राजा के इस असत्य कथन को सुनकर वहाँ उपस्थित देवों ने क्रुद्ध होकर वसु का स्फटिक शिला निर्मित आसन वेदी को तोड़ डाला। उसी मुहूर्त में मानों वे नरक गमन कर रहे हों इस प्रकार जमीन पर गिर पड़े। देवों द्वारा विनष्ट वसु मृत्यु प्राप्त कर नरक गए।

'वसु के आठ पुत्र पृथावसु, चित्रवसु, वासव, शक्र, विभावसु, विश्वावसु, सुर व महासुर क्रमशः राज सिंहासन पर बैठे किन्तु कुपित देवों ने उन सभी की हत्या कर डाली। अतः वसु का नवम् पुत्र सुवसु वहाँ से भागकर नागपुर और दसवाँ पुत्र वृहद्ध्वज मथुरा चला गया। नगरवासियों ने पर्वत को लज्जित एवं तिरस्कृत कर नगर से बाहर निकाल दिया। महाकाल नामक राक्षस ने उसे वन में आश्रय दिया।'

रावण ने पूछा, 'महाकाल राक्षस कौन था?' प्रत्युत्तर में नारद कहने लगे—

'चारण युगल नामक एक नगर था। वहाँ अयोधन नामक एक राजा थे। उनकी रानी का नाम था दिति। उसके गर्भ से सुलसा नामक एक रूपवती कन्या उत्पन्न हुयी। अयोधन ने उसके लिए स्वयंवर रचकर समस्त राजाओं को आमन्त्रित किया। राजागण स्वयंवर में उपस्थित हुए। उनमें सगर नामक राजा विशेष पराक्रमी था। उसकी आज्ञा से मन्दोदरी नामक एक दूती प्रतिदिन अयोधन राजा के प्रासाद में जाने लगी। एक दिन जब दिति कन्या सुलसा सहित अन्तःपुर के उद्यान स्थित कदली गृह में बैठी थी, मन्दोदरी वहाँ पहुँची। माँ और पुत्री में क्या बात हो रही है, जानने के लिए वह कदली गृह के भीतर न जाकर आड़ में छुपकर सुनने लगी।

'दिति बोली, 'वत्स, इस समय तेरा स्वयंवर हो रहा है। किन्तु मुझे एक दुःख हो रहा है और उसका निवारण तू ही कर सकती है। अतः प्रारम्भ से बोल रही हूँ, मन लगाकर सुन—

'श्री ऋषभदेव के भरत और बाहुबली नामक दो पुत्र थे। उनके भी सोम और सूर्य नामक दो पुत्र हुए। ये दोनों मुख्य वंशधर थे और उनके नाम से ही वंश परम्परा प्रवर्तित हुयी। सोम के वंश में मेरा भाई तृणविन्दु हुआ। तेरे पिता अयोधन सूर्यवंश में हुए। तेरे पिता की बहिन सत्ययशा का विवाह तृणविन्दु के साथ हुआ। उसके गर्भ से मधुपिंग नामक एक पुत्र हुआ। मैं तेरा विवाह मधुपिंग के साथ करना चाहती हूँ। तेरे पिता तेरा विवाह स्वयंवर में आए उसी राजा के साथ ही करेंगे जिसे तू पसन्द करेगी। तू स्वयंवर में किसे पसन्द करेगी यह मैं नहीं जानती। इसीलिए मेरा मन बहुत दुःखी है। इस दुःख को दूर करने के लिए तू मुझे वचन दे कि तू मधुपिंग को ही वरण करेगी।'

'सुलसा ने माँ की बात स्वीकार कर ली। मन्दोदरी ने सारी बात जाकर राजा सगर को सुना दी।

'सगर राजा ने स्वपुरोहित विश्वभूति को बुलाकर सारी बात बतायी। विश्वभूति जो कि आशुकवि थे तत्क्षण 'राजलक्षण संहिता' नामक एक ग्रन्थ की रचना की। उसमें उन्होंने ऐसा ही लिखा जिससे सगर राजा राजलक्षण-युक्त और मधुपिंग राजलक्षण-हीन सिद्ध हो। उसी ग्रन्थ को पुराणादि की तरह प्राचीनत्व और प्रतिष्ठा देने के लिए एक सन्दूक में बन्द कर रख दिया।

'अवसर देखकर पुरोहित ने राजसभा में उस ग्रन्थ की आलोचना की और राज्यादेश प्राप्त कर वे उस ग्रन्थ का पाठ राज्य सभा में करने लगे।

'ग्रन्थ पाठ के पूर्व सगर राजा बोले, 'इस ग्रन्थ के अनुसार जो राजलक्षण से हीन होगा उसे या तो सभा से निकाल दिया जाएगा या मृत्युदण्ड दिया जाएगा।'

'पुरोहित जैसे-जैसे पढ़ते गए, उसमें वर्णित गुण स्वयं में न पाकर मधुपिंग लज्जित होने लगा। अन्ततः वह वहाँ से उठकर चला गया। सुलसा ने सगर राजा को वरमाला पहनायी। शेष सभी अपने-अपने राज्य को लौट गए।

'मधुपिंग अपमानित होकर बाल तप करता हुआ परलोक गमन किया और साठ हजार असुरों के स्वामी महाकाल के रूप में जन्म ग्रहण किया। अवधि ज्ञान से उसे पूर्वजन्म ज्ञात हुआ। उसे स्मरण हो आया कि सुलसा के स्वयंवर में सगर राजा के कारण उसे अपमानित होना पड़ा था। उन्होंने ही कृत्रिम ग्रन्थ की रचना कर मुझे सर्वगुण हीन प्रमाणित किया था। अतः मेरे लिए यही उचित है कि मैं सगर राजा को अन्य राजाओं सहित प्राणदण्ड दूँ। तब से वह उनका छिद्र खोजने लगा। तभी शुक्तिमती नदी के तट पर पर्वत से मिलना हुआ। वह ब्राह्मण वेष धारण कर पर्वत के पास गया और बोला, 'हे महामति, मैं आपके पिता का मित्र था। मेरा नाम शाण्डिल्य था। पूर्वजन्म में मैं और क्षीर कदम्ब गौतम नामक विज्ञ उपाध्याय के निकट वेद पाठ करते थे। सुना कि नारद एवं अन्य कुछ लोगों ने तुम्हारा अपमान किया। इसीलिए मैं यहाँ आया हूँ। मैं लोगों को विमुग्ध कर तुम्हारा पक्ष प्रबल कर दूँगा।'

'पर्वत और असुर एक साथ रहने लगे। असुर ने उन लोगों की दुर्गति करने के लिए बहुत से मनुष्यों को कुधर्म में मुग्ध कर दिया। वह लोगों में व्याधि, महामारी और भूतभय फैलाने लगा। और जो पर्वत का मत ग्रहण

कर लेता उसे वह उन व्याधियों से मुक्त कर देता। शाण्डिल्य के आदेश से उनके बार-बार व्याधि महामारी और भूतभय निवारण कर देने से लोग उसका मत ग्रहण करने लगे।

'सगर राजा के राज्य में अन्तःपुर में और परिवार में भी उस असुर ने अत्यन्त भयंकर रोग प्रसारित किया। लोगों के विश्वास के अनुसार सगर राजा ने भी पर्वत से अपना रोग दूर करवाया। पर्वत भी शाण्डिल्य की सहायता से सर्वत्र शान्ति स्थापित करने लगा।

'तदुपरान्त शाण्डिल्य के कथनानुसार पर्वत उपदेश देने लगा कि सौत्रामिनी यज्ञ में मदिरा पान करना उचित है कारण विधिवत् सुरापान करने में कोई दोष नहीं है। गोसव यज्ञ में अगम्यागमन भी किया जा सकता है। मातृमेध यज्ञ की वेदी पर माता का और पितृमेध यज्ञ की वेदी पर पिता का वध करना उचित है। इसमें कोई दोष नहीं है। कछुवे की पीठ पर अग्नि प्रज्वलित कर 'जुहूकांक्षाय स्वाहा' बोलकर (अग्नि के) प्रीत्यर्थ में हवनीय द्रव्य होम करो। यदि कछुवा नहीं मिले तब गंजे सिरवाले, पीतवर्ण, आलस्य-परायण, गले तक निर्मल जल में डूबे हुए, शुद्ध ब्राह्मण के मस्तक पर कछुवे की तरह अग्नि प्रज्वलित कर उसमें आहुति दो। जो हुए हैं और जो होंगे, जो मोक्ष के ईश्वर हैं और जो अन्न द्वारा निर्वाह करते हैं वे सब ईश्वरमय हैं। तब कौन किसका वध करता है। इसलिए यज्ञ में जितना चाहो उतना पशु वध करो। यज्ञ में मांस भक्षण उचित है। यज्ञ के द्वारा जो मांस पवित्र हुआ है, वह देवता के उद्देश्य से हुआ है।

'ऐसे उपदेश से सगर राजा ने जब उसका मत स्वीकार कर लिया तब उसने कुरुक्षेत्र आदि में बहुत से यज्ञ करवाए। इस प्रकार स्वमत प्रसारित होने पर उसने राजसूय यज्ञ आदि करवाए और मृत पशुओं को देव-विमान में बैठे हुए दिखाया। अतः पर्वत के मत की सत्यता पर विश्वास कर लोग निःशंक होकर यज्ञ में जीव वध करने लगे। यह देखकर मैंने दिवाकर नामक विद्याधर से कहा, 'यज्ञ में वध के लिए आए पशुओं का तुम्हें हरण कर लेना चाहिए।' मेरी बात स्वीकार कर वह यज्ञ-स्थली से पशुओं का हरण करने लगा। यह बात वह परमाधामी असुर जान गया अतः उसकी विद्या व्यर्थ करने के लिए *महाकाल यज्ञ में ऋषभ देव की प्रतिमा रखने लगा। यह देखकर उस विद्याधर* ने पशु-हरण बन्द कर दिया। मैं भी निरुपाय होकर वहाँ से अन्यत्र चला गया। तदुपरान्त उसी असुर ने माया द्वारा यज्ञवेदी पर यह वाक्य ध्वनित

किया—'सगर राजा की बलि दो।' तब सुलसा सहित सगर राजा को यज्ञाग्नि में निक्षेप किया गया। इस प्रकार अपना उद्देश्य पूरा हो जाने पर वह असुरका स्थान उसको परित्याग कर अन्यत्र चला गया। इस भाँति पापके पर्वतरूप पर्वत ने हिंसात्मक यज्ञ का प्रचलन करवाया। आप इसे बन्द करें।'

रावण ने नारद की बात स्वीकार कर ली और उन्हें वन्दना कर विदा दी। मरुत राजा को भी उसके कृत्य के लिए उसने उसे क्षमा कर दिया।

तब मरुत राजा रावण को नमस्कार कर बोला, 'हे स्वामी, दया के सागर ये कौन थे? जिन्होंने आपके माध्यम से हमलोगों की भयंकर पाप से रक्षा की।' प्रत्युत्तर में रावण बोला—

'ब्रह्मरुचि नामक एक ब्राह्मण था। वह तापस धर्मावलम्बी था। उसी अवस्था में उसकी स्त्री कुर्मी ने गर्भ धारण किया। एक समय वहाँ कुछ साधु आए। उनमें से एक ने उससे कहा, 'संसार भय से भीत होकर तुम गृह परित्याग कर वन में रहते हो, यह तो ठीक है, किन्तु वनवास में भी जब स्त्री को साथ रखकर विषय भोग करते हो तब गृहवास से यह वनवास किस प्रकार अच्छा हुआ?'

'यह बात ब्रह्मरुचि को लग गयी। तब ब्रह्मरुचि ने तापस धर्म परित्याग कर जैन साधु का धर्म ग्रहण कर लिया। कुर्मी ने भी श्रावक धर्म ग्रहण कर मिथ्यात्व का परित्याग किया और वहीं रहने लगी। यथासमय उसने एक पुत्र को जन्म दिया। जन्म के समय नहीं रोने के कारण कुर्मी ने उसका नाम नारद रखा। एक दिन कूर्मी जब कार्यवश अन्यत्र गयी थी तब जृम्भक देवों ने आकर उसे चुरा लिया। कूर्मी पुत्र-शोक से कातर होकर इन्दूमाला नामक एक आर्यिका से दीक्षित हो गयी।

'जृम्भक देवों ने उस बालक का पालन-पोषण किया, लिखना-पढ़ना सिखाया, शास्त्रों में प्रवीण किया और अन्त में आकाशगामिनी विद्या दी।

'श्रावक व्रतों का पालन करता हुआ नारद क्रमशः युवावस्था को प्राप्त हुआ। सिर पर शिखा रखने के कारण न उसे यति कहा जाता है न श्रावक। नारद कलह बिवाद में रुचि लेता है और नृत्यगीत में प्रेम रखता है किन्तु काम से सदा दूर रहता है। वह एक साथ वाचाल व वत्सल है। वीर और कामी पुरुषों के बीच सन्धि और विग्रह कराता है। हाथ में दूर्भासन, अक्षमाला और कमण्डल लेकर और पैर में खड़ाऊँ पहनकर वह सर्वत्र घूमता रहता है। उसका लालन-पालन देवों ने किया था इसलिए लोग उसे देवर्षि कहते हैं। वे ब्रह्मचारी और स्वेच्छा-विहारी हैं।'

नारद का वृत्तान्त सुनकर मरुत् राजा ने अज्ञानपूर्वक जो यज्ञ करवाने का अपराध किया था उसके लिए रावण से क्षमा माँगी एवं अपनी पुत्री कनकप्रभा उसे दी। रावण ने भी वहाँ उस कन्या से विवाह किया। मरुत् राजा के यज्ञ को भंग करने वाला, पवन-सा महाबली रावण वहाँ से मथुरा चला गया।

मथुरा का राजा हरिवाहन अपने त्रिशूलधारी पुत्र मधु के साथ रावण से मिलने आया। कुछ देर बात-चीत करने के पश्चात रावण ने हरिवाहन से पूछा, 'तुम्हारे पुत्र को यह त्रिशूल कैसे प्राप्त हुआ?' हरिवाहन ने भृकुटि से संकेत कर मधु को आज्ञा दी। मधु मृदुस्वर में कहने लगा:

'यह त्रिशूल मेरे पूर्व भव के मित्र चमरेन्द्र ने मुझे दिया है। त्रिशूल देने के समय उसने मुझसे कहा था धातकीखण्ड के ऐरावत क्षेत्र में शतद्वार नामक एक नगर है। वहाँ सुमित्र नामक एक राजपुत्र और प्रभव नामक एक कुलपुत्र निवास करते थे। उनमें वसन्त और वसन्त-सखा मदन के भाँति प्रेम था। बाल्यकाल में वे एक गुरु के पास रहकर कला का अभ्यास करते और अश्विनी कुमारों की तरह अविभक्त रूप से क्रीड़ा करते। सुमित्र जब बड़ा हुआ तो सिंहासन पर बैठा और प्रभव को भी अपनी तरह समृद्धशाली बना दिया।

'एक बार सुमित्र का अश्व उसे लेकर एक गहन वन में चला गया। वहाँ उसने पल्लीपति की कन्या वनमाला से विवाह किया और उसे प्रासाद में ले आया। एक दिन प्रभव ने उस रूप-यौवन सम्पन्ना वनमाला को देखा। देखते ही वह काम के वशीभूत हो गया और कृष्ण पक्ष के चन्द्र की भाँति प्रतिदिन क्षीण होने लगा। उसका काम रोग इतना असाध्य हो गया कि कोई भी औषध, मन्त्र-तन्त्र उसे ठीक नहीं कर सके। यह देखकर राजा सुमित्र ने एक दिन उससे पूछा, 'मित्र, तुम्हें क्या हुआ है, मुझे स्पष्टतया बताओ।' प्रभव ने कहा, 'वह मैं तुम्हें नहीं बता सकता यद्यपि वह मेरे मन में है। किन्तु वह नीच और कुलनाशक है।' राजा ने उससे सत्य बात कहने के लिए जब बार-बार आग्रह किया तो उच्च-कुल-जात प्रभव बोला, 'तुम्हारी पत्नी वनमाला पर मेरा अनुराग ही इसका कारण है।' राजा बोला, 'मित्र, तुम्हारे लिए मैं समस्त राज्य का परित्याग कर सकता हूँ, वनमाला को त्यागना तो तुच्छ है। आज ही तुम उसे पाओगे' कहकर प्रभव को घर भेज दिया एवं सन्ध्या के पश्चात् स्वयं ही दूती की तरह वनमाला को उसके पास भेजा।

'वनमाला प्रभव के पास जाकर बोली, 'आपको दुःखी देखकर राजा ने जीवन प्रदायिनी औषधि की भाँति मुझे यहाँ भेजा है। आदेश दें मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? पति की आज्ञाका पालन करना मेरा प्रथम कर्तव्य है। आपके लिए मेरे पति तो जीवन पर्यन्त दे सकते हैं तो फिर मुझ-सी दासी की तो बात ही क्या है ? प्रसन्न हों, आप क्यों उदास हो गए हैं ?'

'प्रभव पश्चाताप करता हुआ बोला, 'मुझसे निर्लज्ज को धिक्कार है! सुमित्र ही वास्तव में महान् है। मेरे प्रति उसकी प्रेम की सीमा नहीं है। अन्य के लिए अपना जीवन दिया जा सकता है किन्तु पत्नी नहीं। आप मेरी माता तुल्य हैं। अतः यहाँ से चली जाइए और आज से पति के आदेश देने पर भी पाप पुँज रूपी मेरी ओर भूलकर भी न देखें, न बोलें।'

'राजा सुमित्र भी वनमाला के पीछे-पीछे आए थे और आड़ से समस्त बातें सुन रहे थे। मित्र का ऐसा सत्व देखकर मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए।

'प्रभव ने वनमाला को नमस्कार कर विदा दी। तदुपरान्त खड्ग लेकर अपना शिरोच्छेद करने को तत्पर हो गया। सुमित्र ने उसी समय सम्मुख आकर खड्ग छीन लिया। बोले, 'तुम यह दुःसाहस क्यों कर रहे हो ?'

'लज्जा से प्रभव का मस्तक झुक गया। मानो वह धरती में प्रवेश करना चाहता हो। बड़ी कठिनता के बाद सुमित्र उसे स्वस्थ कर पाए। तदुपरान्त उन्होंने बहुत दिनों तक राज्यकार्य किया। उनका बन्धुत्व पूर्व की तरह ही अक्षुण्ण रहा। शेष जीवन में सुमित्र ने दीक्षा ले ली और मृत्यु के पश्चात् ईशानकल्प में देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्युत होकर हरिवाहन की पत्नी माधवी के पराक्रमी पुत्र मधु के रूप में तुमने यहाँ जन्म ग्रहण किया है। प्रभव दीर्घकाल भवभ्रमण कर विश्वावसु की पत्नी ज्योतिर्मयी की कुखी से श्रीकुमार नामक पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उस जन्म में निदान करने के कारण उसने चमरेन्द्र रूप में जन्म ग्रहण किया। वह चमरेन्द्र मैं हूँ तुम्हारे पूर्वजन्म का मित्र।' ऐसा कहकर उसने मुझे यह त्रिशूल दिया। यह त्रिशूल दो हजार योजन पर्यन्त जाकर कार्य सिद्ध कर पुनः लौट आता है।'

यह सुनकर दशानन ने भक्ति और शक्ति के धारक मधु के साथ अपनी कन्या मनोरमा का विवाह कर दिया।

लंका से दिग्विजय के लिए निकलने के पश्चात् १६ वर्ष व्यतीत होने पर रावण मेरु पर्वत स्थित पाण्डुक वन में जो अर्हत् चैत्य है वहाँ पूजा करने गया।

वहाँ रावण ने भक्तिभाव से समस्त चैत्यों की वन्दना की और अत्यन्त धूमधाम से पूजा उत्सवादि अनुष्ठान किए।

दुर्लंघपुर में इन्द्र का पूर्व दिक्पाल नल कुवर निवास करता था। रावण के आदेश से कुम्भकर्णादि उसे पकड़ने गए। नल कुवर ने आशाली नामक विद्या के प्रभाव से अपने नगर के चारों ओर एक सौ योजन ऊँची एक प्राकार का निर्माण कर रखा था। उस पर उसने एक ऐसा अग्निमय यन्त्र स्थापित कर रखा था जिससे निकलते स्फुलिंग ऐसे लगते मानों अग्नि वर्षा हो रही है। उसी सुदृढ़ प्राकार के भीतर सैन्य परिवृत्त क्रोध से प्रज्वलित अग्निकुमार-से नल कुवर रहता था।

सोकर उठा मनुष्य जैसे ग्रीष्मकालीन दोपहर के सूर्य को नहीं देख सकता उसी भाँति कुम्भकर्णादि वहाँ जाकर उस नगर को नहीं देख पाए। उनका उत्साह भंग हो गया। उन्होंने रावण से जाकर निवेदन किया कि दुर्लंघपुर वास्तव में दुर्लंघ्य है।

यह सुनकर रावण स्वयं वहाँ गया और अग्निवेष्टित वैसा ही दुर्ग देखा। रावण चिन्तामग्न हो गया कि उसे किस प्रकार जय किया जाए। इसी विषय में वह अपने बन्धु-बांधवों से विचार-विमर्श करने लगा।

नल कुवर की पत्नी उपरंभा रावण पर आसक्त हो गयी। अतः उसने रावण के पास दूती भेजी। वह दूती रावण से जाकर बोली—'मूर्तिमती जयलक्ष्मी-सी उपरम्भा आपके साथ क्रीड़ा करना चाहती है। आपके गुणों पर मुग्ध बनी उसका मन तो आपके पास आ ही गया है वहाँ तो मात्र शरीर है। हे मानद, इस नगर की रक्षिका आशाली नामक विद्या को भी वह अपने शरीर की तरह आपके अधीन कर देगी। फलतः आप नल कुवर सहित नगर को अपने अधीन कर सकेंगे। हे देव, सुदर्शन नामक एक चक्र भी आपको प्राप्त होगा।

यह सुनकर रावण ने हँसते हुए विभीषण की ओर देखा। विभीषण ने तुरन्त 'ऐसा ही होगा' कहकर दूती को विदा कर दिया। तब रावण क्रुद्ध होकर विभीषण से बोला, 'विभीषण, तुमने इस कुल विरुद्ध कार्य की स्वीकृति क्यों दी? अरे मूढ़, हमारे कुल में आज तक किसी भी पुरुष ने रणभूमि में आकर शत्रु को पीठ नहीं दिखाई और न ही पर स्त्री को अपना हृदय दिया। वैसा करना तो दूर की बात है, तुमने ऐसा कहकर भी निज कुल को कलंकित कर लिया है। तुम इतने विज्ञ होकर भी कैसे मतिच्छिन्न हो गए और ऐसा

कह डाला ?' विभीषण बोला, 'हे अग्रज, हे महाबाहु, प्रसन्न हों, प्रसन्न हों, इतने कुपित मत होइए। शुद्ध हृदयी पुरुष को केवल वचन मात्र से ही न दोष लगता है न कलंक। पहले उसे आने तो दें, वह आपको विद्या देगी। आप उस विद्या से नल कुवर को वशीभूत कर लें। फिर उसे अस्वीकार कर दीजिएगा। युक्तियुक्त वचनों से उसे समझा-बुझाकर निवृत्त कर दीजिएगा।'

विभीषण की बात को स्वीकृति देने के पूर्व ही रावण के आलिंगन की आशा लिए उपरम्भा वहाँ आकर उपस्थित हो गयी। उसने आशाली नामक वह विद्या रावण को दी। रावण ने उस विद्या के प्रभाव से अग्निमय वेष्टिनी नष्ट कर दुर्लंघपुर में स्वसेना सहित प्रविष्ट हुआ। नल कुवर अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर युद्ध करने आया। विभीषण ने उसे उसी प्रकार पकड़ लिया जिस प्रकार हाथी चमड़े की थैली को पकड़ लेता है। सुर और असुर के लिए अजेय इन्द्र सम्पर्कित दुर्द्धर वह सुदर्शन चक्र भी रावण को प्राप्त हुआ। तब नल कुवर ने रावण की वश्यता स्वीकार कर ली और रावण ने भी उसका राज्य लौटा दिया। कारण पराक्रमी पुरुष विजय की जैसी इच्छा रखते हैं वैसी ऐश्वर्य की नहीं। तब रावण उपरम्भा से बोला, 'हे भद्रे, मुझसे विनयपूर्वक व्यवहार करने वाली आप अपने कुल के योग्य स्वपति को ही स्वीकार करें। कारण आपने मुझे विद्या दी है, अतः आप मेरी गुरु तुल्या हैं। फिर मैं पर-स्त्री को अपनी माँ और बहन की तरह देखता हूँ। आप कामध्वज और सुन्दरी की कन्या हैं। इसलिए आपको ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जो उनके दोनों कुलों को कलंकित करे। ऐसा कहकर रावण ने उसे नल कुवर को सौंप दिया। क्रुद्ध होकर पितृगृह आयी कन्या की भाँति निर्दोष उपारम्भा पुनः पतिगृह लौट गयी।

नल कुवर द्वारा सम्मानित रावण सैन्य सहित रथनुपुर जाकर उपस्थित हुआ। रावण आया है सुनकर बुद्धिमान सहस्रार पुत्र-स्नेहवश स्नेह सिक्त कण्ठ से अपने पुत्र इन्द्र को बोला—

'हे वत्स, तुम्हारे जैसे पराक्रमी पुत्र के जन्म लेने से हमारे कुल ने उन्नति के उच्चतम शिखर पर आरोहण किया है। और अन्य कुल की उन्नति का ह्रास किया है। यह तुमने अपने पराक्रम से ही सम्भव किया है। किन्तु अब नीति को मानना भी उचित है। कभी-कभी केवल पराक्रम ध्वंस का कारण भी बनता है। शरभादि एकान्त पराक्रम के कारण नष्ट होते हैं। इस पृथ्वी पर एक से बढ़कर एक पराक्रमी हैं। इसलिए यह गर्व करना उचित नहीं है

कि मुझसे बढ़कर पराक्रमी कोई नहीं है। इस समय सभी के प्रताप को अपहरण करने वाला सूर्य-से प्रतापी एक पराक्रमी ने जन्म लिया है जिसने सहस्रांशु जैसे योद्धाओं को भी अपने वशीभूत कर लिया है, जिसने खेल ही खेल में अष्टापद उठा लिया, जिसने मरुत राजा का यज्ञ भंग किया, जिसके मन को जम्बूद्वीप के अधिपति यक्ष भी क्षुब्ध नहीं कर सके। अपनी भुजा की वीणा पर अर्हत् भगवान का गुणगान करते देख सन्तुष्ट होकर धरणेन्द्र ने जिसे अमोघ शक्ति दी और जो प्रभु, मन्त्र और उत्साह से आज सबके लिए अजेय है। उसकी दोनों भुजाओं की तरह विभीषण और कुम्भकर्ण नामक दो पराक्रमी भाई हैं। सुकेश राक्षस के वंश में उत्पन्न उस वीर का नाम है रावण। उसने तुम्हारे यम और वैश्रवण नामक सेवक को क्रीड़ा ही क्रीड़ा में हरा दिया। बाली के भाई सुग्रीव को उसने अपना सामन्त बना लिया है। अग्निमय प्राकार वेष्टित दुर्लंघपुर में भी अनायास प्रविष्ट हो गया और उसके छोटे भाई ने वहाँ के राजा नल कुवर को क्रीड़ामात्र में बन्दी बना लिया। ऐसा रावण आज तुम्हारे यहाँ आया है। प्रलयकालीन अग्नि के समान उद्धत रावण को प्रणिपात अर्थात् नम्रतारूपी अमृत वृष्टि से शान्त करो। तुम अपनी रूपवती कन्या रावण को दान करो ताकि दोनों के सम्बन्ध स्नेहमय बने।'

पिता के ये वचन सुनकर इन्द्र अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और बोला—'पिताजी, रावण मेरा शत्रु है। शत्रु को मैं अपनी कन्या कैसे दूँगा? हमारा वैर आज का नहीं वंश परम्परा से चला आ रहा है। हमारे पूर्वज विजय सिंह की उनके पक्ष के राजा ने हत्या की, मैंने उसके पितामह माली की जो दुर्दशा की थी वही दुर्दशा मैं आज रावण की भी करूँगा। रावण आया है तो आए, मेरे लिए वह तुच्छ है। स्नेहवश आप चिन्तित न हों, धैर्य रखें। अपने पुत्र के भुजबल को तो आपने कितनी ही बार देखा है। क्या आप मेरा पराक्रम नहीं जानते?'

इन्द्र जिस समय पिता को यह सब कह रहा था तभी उसे खबर मिली कि रावण ने नगर को घेर लिया है। थोड़ी देर पश्चात् ही रावण का दूत उसके निकट आया और विश्वस्तता पूर्वक बोला—'राजन्, जो राजा अपने भुजबल और विद्याबल पर गर्व करते थे उन सब का गर्व आज खण्डित हो गया है। वे उपहार देकर रावण की पूजा करते हैं। रावण की विस्मृति और आपकी सरलता के कारण इतने दिनों तक आप निश्चिन्ततापूर्वक राज्य करते रहे किन्तु अब आपका भी समय आ गया उनकी सेवा का। अतः अब रावण

की सेवा करें। और यदि सेवा की इच्छा नहीं है तो स्वशक्ति का प्रदर्शन करें। यदि भक्ति और शक्ति किसी का भी प्रदर्शन नहीं करेंगे तो यूं ही बर्बाद हो जाएँगे।'

इन्द्र ने प्रत्युत्तर दिया, 'दीन राजाओं ने रावण की भक्ति की इसीलिए रावण इतना मदोन्मत्त हो गया है और मुझ से भी भक्ति का दावा किया है। इतने दिनों तक तो जैसे-तैसे सब सुख पूर्वक हो गया किन्तु अब उसका सम्पर्क काल तुल्य इन्द्र से हुआ है। एतदर्थ तुम जाकर अपने प्रभु से बोलो कि अब वे अपनी भक्ति या शक्ति दिखाएँ। यदि भक्ति और शक्ति नहीं दिखायंगे तो वे ऐसे ही नष्ट हो जाएँगे।'

तब दूत ने जाकर ये सब बातें रावण से निवेदित कीं। क्रुद्ध बना रावण तुरन्त युद्ध के लिए तैयार हुआ और सैनिकों को भी प्रस्तुत होने को कहा। इन्द्र भी उसी समय युद्ध के लिए तैयार होकर सैन्य सह नगर के बाहर आया। कारण वीर अन्य वीर का अहंकार सहन नहीं कर सकते।

युद्ध प्रारम्भ हुआ। सामन्तों के साथ सामन्त, सैनिकों के साथ सैनिक, सेनापतियों के साथ सेनापति युद्ध करने लगे। प्रलयकाल में संवर्त्त और पुष्करावर्त मेघ में जिस प्रकार संघर्षण होता है उसी प्रकार अस्त्र वर्षण करने वाली दोनों सेनाओं में संघर्ष होने लगा।

पतंगों की भाँति इन सैनिकों के मरने से क्या लाभ होगा समझकर रावण अपने भुवनालंकार हाथी पर चढ़कर आया। इन्द्र और रावण दोनों के हाथियों ने परस्पर आक्रमण किया एक हाथी ने दूसरे हाथी की सूँड़ को इस प्रकार जकड़ लिया कि लगा दो सर्प एक दूसरे को जकड़ कर पड़े हुए हैं या दोनों हाथियों ने जैसे नागपाश की रचना की है। दोनों हाथियों के दाँतों द्वारा परस्पर प्रहार करने के कारण अरणि काष्ठ से जैसे स्फुलिंग निकलते हैं उसी प्रकार अग्नि स्फुलिंग वहाँ से निकलने लगे। दाँतों के आघात से दोनों के दाँतों से उसी प्रकार स्वर्णवलय खिसक कर गिरने लगे जैसे विरहिणी के हाथों से स्वर्णवलय खिसक के गिर जाते हैं। दाँतों के आघात से जिस प्रकार गण्डस्थल से मदधारा प्रवाहित होती है उसी प्रकार दोनों की देह से रक्तधारा प्रवाहित होने लगी। उधर रावण और इन्द्र दोनों हाथियों की तरह युद्ध करने लगे। तोमर मुद्गर और वाणों द्वारा दोनों परस्पर प्रहार करने लगे। दोनों ही बलवान थे अतः एक दूसरे के अस्त्रों को अपने अस्त्रों द्वारा काटने लगे। पूर्व और पश्चिम समुद्र की भाँति कोई किसी से न्यून नहीं था। तब रण रूपी

यज्ञ में दीक्षित वे परस्पर वाध्य-वाधकताकारी उत्सर्ग और अपवाद मार्ग की तरह मन्त्रास्त्रों से एक दूसरे के अस्त्रों को काटते हुए युद्ध करने लगे। एक ही वृक्ष पर लगे दो फलों की तरह भुवनालंकार और ऐरावत हाथी दोनों के एक दूसरे के निकट आते ही रावण कूद कर ऐराबत पर चढ़ गया। और इन्द्र के महावत की हत्या कर एक वृहद हस्ती की तरह इन्द्र को बाँध लिया। यह देखकर राक्षस वीर हर्ष से उच्च कोलाहल कर मधुमक्खियाँ जिस प्रकार मधु छत्ते को घेर लेती है उसी प्रकार ऐरावत को घेर लिया। इन्द्र को घिरते देख इन्द्र की सेना भीत होकर युद्ध से विरत हो गयी कारण स्वामी की पराजय से समस्त सैन्य भी पराजित हो जाती है। ऐरावत हस्ती सहित रावण इन्द्र को लेकर अपने स्कन्धावार में लौट आया। उसने स्वयं को वैताढ्य पर्वत की उभय श्रेणियों का अधिपति घोषित कर दिया।

वहाँ से रावण लंका लौट गया। तोते को जिस प्रकार पींजरे में रखा जाता है उसी प्रकार उसने इन्द्र को कारागार में रख दिया।

यह खबर मिलने पर इन्द्र के पिता सहस्रार दिकपालों को लेकर लंका गए। और सेवक की तरह हाथ जोड़कर रावण से कहने लगे:

'कैलास पर्वत को पत्थर के टुकड़े की तरह उठा लेने वाले आप जैसे वीर से पराजित होकर भी हम लज्जित नहीं हैं, उसी प्रकार आप जैसे वीर से प्रार्थना करने में भी हमें लज्जा नहीं है। अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ आप इन्द्र को छोड़कर मुझे पुत्र भिक्षा दें।'

रावण बोला—'यदि इन्द्र स्वपरिवार और दिकपालों सहित कुछ समय रहकर निम्नलिखित कार्य करे तो मैं उसे छोड़ सकता हूँ। अपने घर को जिस प्रकार धूल और कचरे से परिष्कृत रखा जाता है उसी प्रकार उसे लंका को परिष्कृत रखना होगा। मेघ जैसे जलवृष्टि करते हैं उसी भाँति प्रतिदिन सुबह लंका में दिव्य सुगन्धित जल की वृष्टि करेगा, और उद्यान से फूल तोड़कर माली की तरह मालाएँ गूँथ कर नगर में जितने भी देवालय हैं वहाँ उन मालाओं को पहुँचायेगा। यदि वह यह स्वीकार करे तभी वह मुक्त होगा। और अपना राज्य पुनः प्राप्त कर मेरा कृपापात्र बन कर दिन व्यतीत करेगा।'

सहस्रार के यह सब स्वीकार कर लेने पर रावण ने अपने भाई की तरह इन्द्र का सत्कार कर उसे मुक्त कर दिया।

तब इन्द्र रथनुपुर आकर महादुःख से दिन व्यतीत करने लगा। कहा भी

गया है तेजस्वी पुरुष के लिए निस्तेज होने का दुःख मृत्यु दुःख से भी दुस्सह है।

एक दिन निर्वाणसंगम नामक मुनि वहाँ आए। इन्द्र उन्हें वन्दना करने गया। वन्दना कर इन्द्र ने उनसे पूछा, 'किस कर्मफल के कारण रावण द्वारा मैं इस प्रकार अपमानित हुआ?' मुनि ने जवाब दिया—

'बहुत दिनों पूर्व अरिंजय नामक नगर में ज्वलन सिंह नामक एक विद्याधर राजा रहता था। उसकी वेगवती नामक रानी थी। उनके अहल्या नामक एक रूपवती कन्या थी। समस्त विद्याधर राज उसके स्वयम्बर में एकत्रित हुए। उस स्वयंवर में चन्द्रावर्त नगर के राजा आनन्दमाली और सूर्यावर्त के राजा तड़ित्प्रभ भी आए थे। तड़ित्प्रभ तुम थे। तुम दोनों एक साथ आए थे। फिर भी अहल्या ने तुम्हारा परित्याग कर स्वेच्छा से आनन्दमाली के गले में वरमाला डाली। तुम्हे यह अपमान लगा। उस दिन से तुम आनन्दमाली के प्रति द्वेष भाव रखने लगे। कारण तुमने सोचा तुम्हारे रहते अहल्या उसको वरमाला कैसे पहनायी?

'कुछ दिनों पश्चात् आनन्दमाली के मन में संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने संसार परित्याग कर दीक्षा ग्रहण की और महर्षियों के साथ तीव्र तपस्या करने लगा। विहार करते हुए वह एकवार रथावर्त नामक पर्वत पर आया और वहाँ पर ध्यान करने लगा। तुमने उसे वहाँ देखा। देखते ही तुम्हे अहल्या के स्वयंवर की घटना याद हो आयी। अतः तुमने उसे उसी अवस्था में बांधकर खूब मारा—किन्तु वह ध्यान से जरा भी विचलित नहीं हुआ, पर्वत की तरह अटल रहा।

'कल्याणगुणधर नामक एक साधु जो कि उसके गुरु भाई थे उसके साथ आए थे उन्होंने यह कृत्य देखा। तुम्हें निवृत्त करने के लिए जिस प्रकार वृक्ष पर बिजली गिरती है उसी प्रकार तुम पर तेजोलेश्या फेंकी। यह देखकर तुम्हारी पत्नी सत्यश्री ने अनुनय विनय द्वारा मुनि को शान्त किया। तब उन्होंने उस तेजोलेश्या का संहरण कर लिया। अतः तुम्हें जलकर मरने से छुटकारा मिला। किन्तु मुनि का तिरस्कार करने के कारण उन्हें कष्ट देने के कारण तुमने दीर्घकाल तक संसार भ्रमण किया। तदुपरान्त कुछ शुभ कर्म उपार्जन करने के कारण सहस्रार के पुत्र इन्द्र रूप में जन्मग्रहण किया। रावण द्वारा जो तुम तिरस्कृत हुए वह मुनि को दुःख देने और उनका तिरस्कार करने के कारण। क्योंकि कर्म सामान्य कीट से लेकर पुरन्दर तक को उसका

फल अवश्य देता है। चाहे वह शीघ्र दे या दीर्घ दिनों के पश्चात् दे। संसार का यही नियम है।'

इस प्रकार अपने पूर्व भवका वृतान्त अवगत कर इन्द्र ने अपने पुत्र दत्तवीर्य को राज्य देकर स्वयं दीक्षा ग्रहण कर ली और उग्र तपश्चर्या कर मोक्ष गमन किया।

एकबार रावण अनन्तवीर्य नामक मुनि,को केवलज्ञान होने पर वन्दन करने स्वर्णतुंग नामक पर्वत पर गया। उन्हें वन्दना कर अपने योग्य स्थान पर बैठकर कानों के लिए अमृत तुल्य उनकी धर्म देशना सुनी। देशना शेष होने पर रावण ने उनसे पूछा—'भगवन्, मेरी मृत्यु किस कारण से और किसके हाथ होगी?' महर्षि ने प्रत्युत्तर दिया—'पर स्त्री दोष से भविष्य में जन्म लेने वाले वासुदेव के हाथों प्रति वासुदेव तुम्हारी मृत्यु होगी।'

यह सुनकर रावण ने उनके सन्मुख ही यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि किसी अनिच्छुक पर स्त्री से वह संभोग नहीं करेगा।

तदुपरान्त ज्ञान रत्न के सागर मुनि को वन्दनाकर रावण पुष्पक विमान में बैठकर अपने नगर को लौट आया और वहाँ के नर-नारियों के नेत्र रूपी नील कमलों को हर्ष वैभव देने में वह चन्द्र रूप बना।

द्वितीय सर्ग समाप्त

[क्रमशः

संकलन

॥ विद्युत् जैन आगमों की नजर में ॥

आज का युग कहने का नहीं, प्रत्यक्ष में कुछ करके दिखाने का युग है। विद्युत् अग्नि है कहते जाइए। कहने से क्या होता है। विज्ञान ने तो अग्नि और विद्युत् का अन्तर स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष में सिद्ध करके दिखा दिया है। पुराने युग में कुछ आचार्यों ने यदि विद्युत् की गणना अग्निकाय में की है तो इससे क्या हो जाता है? उनका अपना एक युगानुसारी चिंतन था, उनकी अपनी कुछ प्रचलित लोकधारणाएँ थी। वह कोई प्रत्यक्ष सिद्ध वैज्ञानिक मान्यताएँ नहीं थी। राजप्रश्नीय सूत्र में वायु को भारहीन माना है। बताया है कि हवा में वजन नहीं होता है। जबकि हवा में वजन होता है और यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। अन्य जैन आगमों से भी वायु में गुरुत्व सिद्ध है। अतः मानना होगा कि राजप्रश्नीयकार या केशी कुमार श्रमण केवल लोक प्रचलित मान्यता का उल्लेख कर रहे हैं, सैद्धान्तिक पक्ष का प्रतिपादन नहीं। चन्द्र, सूर्य आदि के सम्बन्ध में भी उनकी यही स्थिति है। वही बात विद्युत को अग्नि मानने के सम्बन्ध में भी है, जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है तथा अन्य आगमों से भी सिद्ध नहीं है।

मैं आशा करता हूँ विद्वान मुनिराज तटस्थ भाव में उक्त चर्चा का विश्लेषण करेंगे और विद्युत् को अग्नि मान लेने के कारण ध्वनिवर्द्धक का जो प्रपंच समाज में चर्चा का विषय बन गया है, उसका उचित निराकरण करेंगे। प्रवचन सभा में हजारों की भीड़ हो जाती है, सुनाई कुछ नहीं देता है। शोरगुल होता है, आकुलता बढ़ती है, जनता के मन खिन्न हो जाते हैं। वह कितनी बड़ी मानसिक हिंसा है। प्रस्तुत प्रसंग में इस पर भी विचार करना आवश्यक है।

—उपाध्याय श्री अमरमुनि

जैन संगम टाइम्स : मई १९६२

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या

जर्नल अव दि एशियाटिक सोसाईटी ॥ भाग ३२, अंक ३-४

इस अंक में है 'Mural Paintings in the Jain Temples of Bundi' (Arvind Saxena).

तीर्थङ्कर ॥ अप्रैल १९९२

सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'तीर्थ : आध्यात्मिक क्रान्ति के विलक्षण स्रोत' (मुनि चन्द्रप्रभ सागर), 'और मैं टाइप करता गया' (डॉ. नेमीचन्द), 'शाकाहार वर्ष : सघन ब्लू प्रिंट (हम क्या करें ?)' (वार्तालाप : मुनि श्री विद्यानन्दजी व डॉ. नेमीचन्द)।

श्रमण ॥ जुलाई-दिसम्बर १९९१

इस अंक में है 'पंच परमेष्ठि मन्त्र का कर्तृत्व और दशवैकालिक' (साध्वी सुरेखा श्री), 'उच्चैर्नागर शाखा के उत्पत्तिस्थल एवं उमास्वाति के जन्मस्थल की पहचान' (डॉ. सागरमल जैन), 'सुडा-सहेली की प्रेम कथा' (भँवरलाल नाहटा), 'जैन सम्मत आत्मस्वरूप का अन्य भारतीय दर्शनों से तुलनात्मक विवेचन' (डॉ. कमल पंत), 'अपभ्रंश के जैन पुराण और पुराणकार' (रीता विश्नोई), 'कोटिशिला तीर्थ का भौगोलिक अभिज्ञान' (डॉ. कस्तूरचन्द जैन), 'उपकेश गच्छ का संक्षिप्त इतिहास' (डॉ. शिवप्रसाद)।

सम्बोधि ॥ भाग १६

इस अंक में है 'आचार्य श्री हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण और अर्धमागधी भाषा' (डॉ. के. आर. चन्द्र), 'दोहा-पाहुड' (सं. डॉ. रमणीक शाह)।

LODHA MOTORS

A House of Telco Genuine Spare Parts and
Govt. Order Suppliers.
Also Authorised Dealers of Pace-setter and
Nicco Batteries in Nagaland State.

GOLAGHAT ROAD, DIMAPUR
NAGALAND

Phone : 3039, 3174.

The Bikaner Woollen Mills

**Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn, Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets**

Office and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phone : Off. 3204
Res. 3356

Main Office :

4 Meer Bohar Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 38-5960

Branch Office :

Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 5378
5578,5778

WB/NC-330

Vol. XVI No. 2 **TITTHAYARA** **June 1992**

Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77